अपने वतन में पराए

प्रफुल्ल कोलख्यान

अपने मूल भाषा-क्षेत्र से बाहर रह कर छोटे-मोटे रोजगार और खुदरा कारोबार में लगे लोगों को निकृष्टतम अर्थों में अपने 'बाहरी' होने का भारी दबाव झेलना पड़ रहा है। ऐसा लगता है कि राज्य सरकारों की निगाह में अपने राज्य और अपने राज्य के भी प्रमुख भाषा-क्षेत्र से बाहर के भारतीय लोग बोझ होते हैं जिनके नागरिक अधिकार सुनिश्चित करना उनका दायित्व नहीं है।

भारतीय राजनीति इस समय चुनाव जीतने की तात्कालिकता में सांस ले रही है। चुनावी तात्कालिकता और भारतीयता के विन्यास को बचाए रखने की दीर्घकालिकता के बीच संतुलन को साधने के धैर्य का अभाव कमोबेश सभी राजनीतिक दलों में दिखाई देता है। राजनीतिक दलों के भ्रष्टाचार में लिप्त होने के कारण भी यह अभाव उनका सामान्य चरित्र बन गया है। यहां नागरिक जमात की एक गहरी भूमिका बन सकती है। लेकिन नागरिक जमात इस समय भ्रष्टाचार के मुद्दे पर केंद्रित होकर भी भ्रष्टाचार के मूल कारणों की उपेक्षा ही कर रही है। कहना न होगा कि भ्रष्टाचार का गहन संबंध मुनाफेबाजी से है। बाजार के नए व्याकरण में शुभ तो गायब हो ही गया है लाभ भी चुपके से मुनाफाखोरी में बदल गया है। कारण कुछ भी हो, स्थिति यह है कि नागरिक जमात फिलहाल इस पर लगभग चुप ही है।

आजादी के आंदोलन के दौरान भारतीयता नए स्तर पर संगठित हो रही थी। कुछ छोटे कालखंडों को छोड़ दिया जाए तो भारत कभी एक राजनीतिक इकाई नहीं था। इसके बावजूद आजादी के आंदोलन के दौरान स्थानीय समस्याओं के निदान के लिए राजनीति राष्ट्रीयता की ओर बढ़ती थी और आज की स्थिति यह है कि वह राष्ट्रीय समस्याओं के हल क्षेत्रीयता में ढूढ़ती है। भारत एक राजनीतिक इकाई न होने की स्थिति में भी हमेशा एक सांस्कृतिक इकाई रहा है।

भारत बड़ा और सांस्कृतिक रूप से जटिल संरचना वाला देश है। पुराने को बनाए रखते हुए नए का समावेशन इसकी सांस्कृतिक विशेषता है। कोशिश करने पर भी अनुपयोगी और अप्रासंगिक हो चुके कई पुराने जीवन-प्रसंगों से भारतीय संस्कृति का पिंड छूटता नहीं और नए मूल्यबोध से भारतीय संस्कृति अलग-थलग रह नहीं पाती है। इसलिए यह बोझिल, जटिल और अंतर्विरोधी भी है। यह इसकी बनावट का अपना अनिवार्य वैशिष्टय है। जब नजर पुरानेपन पर ठिठक जाती है तब यह निष्कर्ष मिलने लग जाता है कि भारत बिल्कुल नहीं बदल रहा है। जब नजर नएपन से चौंधिया जाती है तो लगने लगता है कि पुराना जो भी था नष्ट हो गया। कबीर को याद करें

तो इन दोनों राह न पाई। सच तो यह है कि पूरी दुनिया के साथ भारत भी बदलाव के दौर से गुजर रहा है। इस बदलाव में अच्छा और बुरा दोनों शामिल हैं।

इस बदलाव की भाषा को पढ़ा जाना चाहिए। खासकर इसकी राष्ट्रीय संरचना में हो रहे बदलाव के संकेतों को पढ़ा जाना इसलिए भी जरूरी है कि आज का हासिल भारत राष्ट्रवाद के उपकरणों से निर्मित है। पूरी बीसवीं सदी दुनिया में राष्ट्रवाद के बोलबाले की सदी रही है। इक्कीसवीं सदी बाजारवाद की सदी है। राष्ट्रवाद और बाजारवाद के अंतर्विरोध, अंतर्घात और अंतर्मिलन से राष्ट्रीय संरचना में हो रहे बदलाव का गहरा संबंध है।

राष्ट्रवाद का गहरा संबंध मानव-श्रम की तुलना में मशीन के बढ़ते वर्चस्व से रहा है। यहां याद करना प्रासंगिक है कि औद्योगिक क्रांति के दौर में मशीन के इस्तेमाल से उत्पादन प्रक्रिया में जबर्दस्त तेजी आई। इसके कारण प्रचुर मात्रा में कच्चे माल को लाने और बड़े पैमाने पर तैयार माल को खपाने की जरूरत पैदा हुई। उत्पाद का संबंध मनुष्य की जरूरत से ज्यादा मुनाफे से होता गया। औद्योगिक और व्यापारिक पूंजी, दोनों ही मुनाफे से संचालित होने लगीं। औपनिवेशिक शक्तियों की सक्रियता बढ़ी। इससे राष्ट्रवाद एक ऐसी राजनीतिक संरचना के रूप में विकसित हुआ जो औपनिवेशिक शक्तियों को भी मजबूत बनाता था और उनके चंगुल से बचाव की भी प्रेरणा बनता था। कहने की जरूरत नहीं कि पूंजी में राष्ट्रीयता का तत्त्व शामिल हो गया।

पूंजी में निहित मुनाफे की आकांक्षा के टकरावों को पूंजी की राष्ट्रीयताओं के टकरावों में बदलते देर नहीं लगी। फलस्वरूप दुनिया को विश्व-युद्धों की त्रासदी से गुजरना पड़ा। विश्व-पूंजी ने इससे कुछ सबक भी ग्रहण किया। पूंजी की महत्त्वाकांक्षा को युद्ध से परहेज नहीं है। लेकिन विश्व-ध्वंस से उसे अवश्य डर लगता है। विभिन्न राष्ट्रों के एटमी हथियारों से लैस हो जाने से इस विध्वंस के खतरे में होने वाली अतिरिक्त वृद्धि का पाठ पूंजीवाद के लिए बहुत मुश्किल नहीं था। हालांकि 1946 से ही परमाणु अप्रसार के प्रयास हो रहे थे, लेकिन दुनिया के एक-ध्रुवीय बनने की ओर बढ़ने के ठीक पहले परमाणु अप्रसार के उपायों पर बहुत जोर दिया जाने लगा।

दुनिया भर में पूंजीवाद की राजनीतिक जरूरतों के अनुसार राष्ट्रवाद विकसित हुआ और राष्ट्रवाद की राजनीतिक जरूरत के अनुसार जनतंत्र। लेकिन पूंजीवाद और जनतंत्र में आत्म-विरोध है। पूंजीवाद अनिवार्य रूप से विषमता का आधार तैयार करता है, जबकि यथासंभव समता जनतंत्र के प्राण का मूलाधार है। पूंजीवाद जनतंत्र को समता की ओर नहीं बढ़ने देता। लेकिन समता की ओर बढ़ने का प्रयत्न करते हुए दिखे बिना जनतंत्र अपनी विश्वसनीयता ही नहीं बना पाता।

जनतंत्र को अपनी विश्वसनीयता कायम करने के लिए जरूरी है कि वह समता की ओर भले न बढ़े, पर इसका प्रयास करता हुआ दिखे अवश्य। कपट लंबे समय तक नहीं चलता। एक समय के बाद यह कपट प्रकट होने लगा और जनतंत्र की विश्वसनीयता कम होने लगी। जनतंत्र का क्षरण राष्ट्रवाद को धीरे-धीरे निरर्थक बना देता है। राष्ट्रवाद की सिकुड़न से बनने वाली

राजनीतिक शून्यता को साम्राज्यवाद बाजारवाद से भरने की कोशिश करता है। जनतंत्र का स्थानापन्न बन कर आने वाला बाजारवाद स्वाभाविक रूप से जनकल्याण का आश्वासन लेकर आता है। इसको विकास के मुहावरे में समझा और समझाया जाता है। अब चूंकि जनकल्याण का प्राण विकास में बसता है और विकास को बाजारवाद ही सुनिश्चित कर सकता है, इसलिए खुद सिद्ध हो जाता है कि जनकल्याण का रास्ता बाजारवाद से होकर ही गुजरता है। विकास के नए वातावरण में भारत बदल रहा है। इसके कारण भारत की अंदरूनी हलचल और बेचैनी बढ़ रही है। इसे समझने का प्रयास जरूरी है।

आजादी के आंदोलन के दौरान और आजादी मिलने के बाद पहले दौर में भारत की राष्ट्रीय संरचना राष्ट्रवाद और जनतंत्र के सापेक्ष विकसित हुई। यह संरचना अब बाजारवाद और विकास की सापेक्षता में बदल रही है। जाहिर है, इस बदलाव को समझने के लिए विकास के चरित्र को समझना होगा। विकास के लिए चाहिए पूंजी। चूंकि राष्ट्र ही सिकुड़ रहा है इसलिए स्वाभाविक है कि पूंजी की राष्ट्रवादी पहचान भी खत्म हो रही है। पूंजी है देशी-विदेशी पूंजीपतियों के पास। पूंजी चाहे देशी हो या विदेशी, उसका स्वाभाविक लक्ष्य है निष्कंटक मुनाफा। यह मुनाफे का कांटा ही था जिसके चलते पश्चिम बंगाल में लगा कारखाना उखड़ कर अपेक्षया निष्कंटक मुनाफा-क्षेत्र गुजरात चला गया। मुनाफे के कांटे पर भी गौर करना जरूरी है।

जिस तरह पूंजी का लक्ष्य होता है निष्कंटक मुनाफा, उसी तरह आम आदमी का लक्ष्य होता है निर्बाध रोजगार। हमारी सरकारों की राजनीतिक कुशलता यह होनी चाहिए कि वे मुनाफे के कांटों और रोजगार की बाधाओं, दोनों को व्यावहारिक स्तर पर कम करें। कठिनाई यह है कि मुनाफे के कांटे कम करने पर रोजगार निर्बाध नहीं रह पाता। रोजगार की बाधाओं को कम किया जाए तो मुनाफा में कांटे बढ़ जाते हैं। यहीं राजनीतिक कुशलता की जरूरत होती है। एक बात और समझने की है कि पूर्णत: अंतर्विरोध-मुक्त सिर्फ यूटोपिया होता है। जीवन को अंतर्विरोधों में सामंजस्य साधते हुए ही आगे बढ़ना पड़ता है।

राष्ट्रवाद के दौर से बाहर निकलते ही क्षेत्रीयता, राष्ट्रीयता और नागरिकता के अंतर्संबंध में एक भिन्न तरह का तनाव उत्पन्न हो रहा है। इसके कारकों को समझना होगा। भारत के सभी क्षेत्रों में एक तरह की विकास प्रक्रिया नहीं चल रही है। सभी क्षेत्रों में जनसंख्या और राजनीतिक गुणवत्ता भी एक जैसी नहीं है न कुदरती और सांस्कृतिक समृद्धि एक जैसी है। जाहिर है, शिक्षा, स्वास्थ्य, भोजन, आवास, रोजगार सहित सामाजिक सुरक्षा और नागरिक अधिकार की उपलब्धता सभी जगह एक जैसी नहीं है। नागरिकता राष्ट्रीय है, लेकिन नागरिक अधिकार से जुड़े शिक्षा, स्वास्थ्य, भोजन, आवास, रोजगार सहित सामाजिक सुरक्षा के अधिकार की उपलब्धता एक क्षेत्रीय प्रसंग बनती जा रही है। रोजगार और बेहतर जिंदगी की तलाश में लोग पूरी दुनिया का चक्कर लगाते हैं। भारत के एक क्षेत्र के लोग दूसरे क्षेत्र में अधिकारपूर्वक जाते हैं। लेकिन नागरिक अधिकार के क्षेत्रीय प्रसंग बनते जाने से अपने मूल क्षेत्र से बाहर रहने वाले लोगों को कदम-कदम पर यह अहसास होने लगा है कि उनका नागरिक अधिकार मूल निवासियों से कमतर है। वैधानिक स्थिति चाहे जो हो, वास्तविक स्थिति यही है।

प्रफुल्ल कोलख्यानः अपने वतन में पराएः पृ. 3, कुल पृ. 4

चुनाव में प्राप्त वोट-प्रतिशत या अपनी विचारधारा के तर्क पर खुद को राष्ट्रीय दल बताने वालों में भी क्षेत्रीयता का मनोभाव बढ़ रहा है, क्षेत्रीय दलों में तो वह है ही। राष्ट्रवाद के दायरे से बाहर निकल कर बाजारवाद के परिसर में प्रवेश करने के उपक्रम में राष्ट्रीय संरचना बुरे अर्थ में क्षेत्रीयता के दबाव में है। अधिकतर मामलों में राज्य सरकारें न सिर्फ क्षेत्रीयता के दबाव में काम कर रही हैं, बल्कि क्षेत्रीय भावनाओं को खतरनाक ढंग से उभारे रखने की कोशिश भी लगातार करती रहती हैं। राजनीतिक विकास-क्रम को देखने पर यह बात बिल्कुल साफ हो जाती है कि केंद्र में किसी एक दल की सरकार बनने के दिन नहीं रहे। भारतीय राज्य और भारतीय संघ के पारस्परिक संबंध को व्याख्यायित करने वाले संवैधानिक प्रावधानों के साक्ष्य से यह प्रमाणित है कि भारत की राष्ट्रीय संरचना का मूल चरित्र एकात्मक है। राष्ट्र के एकात्मक होने और सरकार के संघात्मक बनने की संभावनाओं के कारण तीखा अंतर्विरोध उभर रहा है। राष्ट्र और सत्ता की संरचना पर इसका दूरगामी असर पड़ सकता है। तात्कालिक असर तो अपने मूल राज्य से बाहर निकल कर छोटे-मोटे रोजगार तलाशने या खुदरा कारोबार करने वालों पर दिखने लगा है।

एक तरफ खुदरा क्षेत्र में बड़ी-बड़ी देशी-विदेशी कंपनियों के लिए जगह बनाने की कोशिश हो रही है, तो दूसरी ओर, अपने ही राज्य में छोटे-मोटे कारोबारियों के लिए जगह कम पड़ रही है। ऐसे में भिन्न राज्य से रोजगार या खुदरा कारोबार की तलाश में आने वाले भारतीय नागरिक को बाहरी बता कर व्यावहारिक स्तर पर बाहर कर देने की स्थिति बन रही है। इसमें जो प्रक्रियाएं अपनाई जाती हैं उनसे नागरिक अधिकार खंडित होता है।

यहां राजनीतिक दलों और राज्य सरकारों की एक सकारात्मक भूमिका के लिए महत्त्वपूर्ण जगह है। लेकिन क्षेत्रीयता की भावनाएं उभार कर अपना हित साधने में लगे राजनीतिक दलों और क्षेत्रीयता के दबाव में काम करने वाली सरकारों से इस सकारात्मक भूमिका की अपेक्षा कैसे की जाए! इस मामले में स्थिति काबू से बाहर होने के पहले ही राष्ट्र को कानूनी प्रावधान करने के बारे में सोचना चाहिए।

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।

सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान